



# अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

## वैचारिक पूर्वग्रह और प्रेमचंद का दलित-पाठ

डॉ. सुधीर प्रताप सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर- हिंदी

श्री अरविंदो कॉलेज

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

मालवीय नगर, नई दिल्ली -17

ईमेल-sudheerpsingh@gmail.com

**शोध-सार** - वर्तमान समय दलित और स्त्री सरोकारों से सम्बंधित साहित्य के उभार का है। ऐसे में न केवल वर्तमान साहित्य वरन पूर्व में स्थापित सभी प्रमुख साहित्यकारों के लेखन का पुनर्पाठ किया जा रहा है। साहित्य की दुनिया में अक्सर कहा जाता है कि साहित्यिक पाठ के अर्थ स्थिर नहीं होते, बदलते समय संदर्भ के साथ उनमें बदलाव होता रहता है। इन बदलाव के कारणों कि परख आवश्यक है परन्तु किसी पूर्वग्रह के साथ नहीं। यह शोधपत्र प्रेमचंद के साहित्य का दलित दृष्टिकोण के किये गए पुनर्पाठ का पाठ्यालोचन है।

**मूल-शब्द** – पूर्वग्रह, दलित पाठ, पुनर्पाठ, सामंत।

### I. प्रस्तावना

दलित साहित्यांदोलन ने प्रेमचंद सम्बन्धी विमर्श को पूरी तरह उलट कर रख दिया है। एक ज़माने में ब्राह्मणवाद के प्रखर विरोधी और इसी नाते घृणा के प्रचारक माने जाने वाले प्रेमचंद अब दलित विरोधी ठहराए जा रहे हैं। आज प्रेमचंद को सामंतों का मुंशी करार दिया जा रहा है। विडम्बना यह है कि इसके लिए प्रेमचंद के साहित्य से ज्यादा उनकी जाति को जिम्मेदार माना जा रहा है। दलित आलोचकों का मानना है कि वे दलित और स्त्री के मामले में समय के दबाव में बदलते हुए सामंती विचारों के व्यक्ति और प्रतिनिधि रचनाकार थे। प्रेमचंद की प्रासंगिकता पर सवाल करते

हुए दलित आलोचक कहते हैं कि प्रगतिशीलता का अर्थ इतना निरपेक्ष न बनाया जाये कि वेष बदल कर प्रतिक्रियावाद और सामाजिक सुधार कहा जाये। प्रेमचंद पर दलित हमले की शुरुआत 'कफ़न' कहानी के पुनर्मूल्यांकन से शुरू होती है, जिसकी परिणति 'रंगभूमि' के दहन और अंततः 'सामंतों का मुंशी' बताने तक जरी रहती है। भविष्य में प्रेमचंद क्या – क्या बनेंगे अभी कहा नहीं जा सकता, पर इस पुनर्पाठ का भी पाठ होना आवश्यक है।

साहित्य की दुनिया में अक्सर कहा जाता है- साहित्यिक पाठ के अर्थ स्थिर नहीं होते, बदलते समय संदर्भ के साथ उनमें बदलाव होता है। इस बदलाव के कारक के तौर पर ज्यादातर बदलते

राजनीतिक सरोकार और सामाजिक समीकरण की पहचान की जाती है। लेकिन यह बात किसी साहित्यिक पाठ भर के लिए नहीं बल्कि किसी भी “पाठ” के लिए कही जा सकती है। अर्थगत वैभिन्न से कोसों दूर माने जाने वाले प्राकृतिक विज्ञान के पाठों के भीतर भी प्रच्छन्न पाठ ढूँढे गए हैं और उनके प्रचलित अर्थ से अलग अर्थ खोजे गए हैं। कालजयी कहलाने वाला प्रेमचंद का साहित्य की देशगत-कालगत सीमा का रेखांकन बीते दो दशकों में आश्चर्यजनक तेजी के साथ हुआ है। स्त्रीवादी और दलितवादी सरोकारों के उभार के दौर में प्रेमचंद के जीवन और लेखन से जुड़े तकरीबन हर कोने-अंतरे को खंगाला गया और इस पुनर्पाठ के क्रम में भारतीय ग्राम-समाज की सच्चाइयों के चितरे कहलाने वाले मुंशी प्रेमचंद को “सामंतों का मुंशी” तक कहा गया। राजनीति में दक्षिणपंथी उभार के दिनों में प्रेमचंद के लेखन में वर्ण-व्यवस्था के पोषक हिन्दुत्व की रंग-रेखाएं खोजी गईं। संक्षेप में कहें तो, अगर प्रेमचंद की छवि प्रगतिशील खेमे की आलोचना के भीतर एक यथार्थवादी, समाज के वंचित तबके के उत्थान को तत्पर, सर्वधर्म सम-भावी और समाज के निर्माण में साहित्य की अग्रणी भूमिका देखने वाले साहित्यकार की थी तो इस छवि के बरक्स प्रेमचंद के पुनर्पाठ में उन्हें समाज के वंचित तबके के प्रति अवमानना से भरे और कट्टर हिन्दूवादी संस्कारों में जकड़े साहित्यकार के तौर पर साबित करने की कोशिशें हुई हैं। मिसाल के लिए पढ़ें ये दो कथन- “प्रेमचंद ग्राम्य जीवन और लोक परंपराओं से नितांत अनभिन्न थे। वे घोर ईश्वरवादी, भाग्यवादी और वर्णवादी थे तथा छुआछूत और जातपात में उनका अटूट विश्वास था।” और- “अछूतों को मुसलमान बनने से रोकने के लिए प्रेमचंद समूचे मुस्लिम वर्ग के प्रति दकियानूस होते हैं। उनकी यह कुंठा हिन्दू-मुस्लिम एकता में बाधक बनी। प्रेमचंद ने मुसलमानों के प्रति अपनी नकारात्मक सोच के चलते शतरंज के खिलाड़ी जैसी कहानी लिखी।” [1]

इस कोशिश की प्रेरणा-भूमि क्या है ? वह बदला हुआ समय-संदर्भ कौन-सा है जिसने प्रेमचंद के पुनर्पाठ को प्रेरित किया और प्रेमचंद के पुनर्पाठ के भीतर क्या कुछ छूटा हुआ सा रह गया है ? इन प्रश्नों के संभावित उत्तर के लिए आइए उस घटना पर नजर डालें जिसका सीधा रिश्ता प्रेमचंद के साहित्य से तो नहीं मगर उन कारक शक्तियों और मनोभाव से जरूर है जिसने एक दृष्टिकोण विशेष के साथ प्रेमचंद की रचनाओं के पुनर्पाठ के लिए प्रेरित किया।

बात बीते मई (2012) महीने की है। संसद में कक्षा ग्यारह के लिए एनसीईआरटी द्वारा बनायी गई राजनीति-विज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक में छपे एक कार्टून पर बहस हुई। [2] यह कार्टून मशहूर कार्टूनिस्ट शंकर ने सन् 1949 में बनाया था। उस समय देश के संविधान-निर्माण का काम चल रहा था। कार्टून में बाबा साहब

भीमराव अंबेडकर को संविधान-निर्माण समिति के मुखिया की हैसियत से एक घोंघे पर बैठाया गया है, और वे घोंघे की गति को तेज करने के लिए उसपर चाबुक फटकार रहे हैं। घोंघे के ऊपर संविधान लिखा है। अंबेडकर के पीछे अंतरिम सरकार के मुखिया के तौर पर नेहरुजी खड़े हैं। वे घोंघे को चलता हुआ देख रहे हैं, फटकारने की मुद्रा में चाबुक उनके हाथ में भी है। कार्टून में यह भी चित्रित किया गया है कि यह दृश्य देश की जनता देख रही है।

पाठ्यपुस्तक बनाने वालों की मानें तो जिन दिनों यह कार्टून बना था, उन दिनों देश के पढ़े-लिखे तबके के बीच संविधान-निर्माण की गति को लेकर एक आशंका व्याप्त थी। आशंका यह कि एक नव-स्वतंत्र देश की नियति के नियामक दस्तावेज यानी संविधान को जिस अपेक्षित तेजी से बनना चाहिए, उस तेजी से वह नहीं बन रहा और देश में राजकाज का स्वरूप क्या होगा- इस प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा ज्यादा लंबी होती जा रही है। पाठ्यपुस्तक निर्माताओं के अनुसार, तब के समय में लोगों में व्याप्त इस धारणा से छात्रों को परिचित कराने और इस धारणा के दोष के बारे में आगाह करने के लिए कार्टून को पाठ्यपुस्तक में रखा गया था। इस कार्टून के बारे में पाठ्यपुस्तक में छात्रों से सवाल पूछा गया था कि क्या आपको लगता है कि संविधान-निर्माण में देरी हुई और उत्तर दिया गया है कि संविधान का निर्माण हड़बड़ी में नहीं हुआ, इसी कारण अपने देश का संविधान दुनिया के सर्वश्रेष्ठ संविधानों में एक है।

दलित-सरोकारों के लिए प्रतिबद्ध महाराष्ट्र के एक संगठन ने इस कार्टून पर आपत्ति उठायी और कहा कि कार्टून से डाक्टर अंबेडकर का अपमान हुआ है। इस दल का तर्क था कि एक तो अंबेडकर को घोंघे की सवारी करता दिखाना अपमानजनक है, दूसरे इस कार्टून में एक सवर्ण(नेहरु) एक दलित(डा. अंबेडकर) की पीठ पर चाबुक फटकार रहा है और तीसरे यह कि कक्षा में पढाते समय यह कार्टून दलित जाति के किसी छात्र को अपमानित करने का माध्यम बन सकता है। महाराष्ट्र के इस संगठन की कार्टून से जुड़ी आपत्ति की गूज संसद तक पहुंची। संसद में, पक्ष-विपक्ष के ज्यादातर सांसदों ने एकस्वर से कहा कि कार्टून डाक्टर अंबेडकर के प्रति अपमानसूचक है। संबद्ध मंत्रालय के आदेश पर एक समिति बैठायी गई और इस समिति ने पाठ्यपुस्तक से उक्त कार्टून सहित कई अन्य कार्टूनों को हटाने की अनुशंसा की। [3]

इस पूरे प्रकरण पर जन-संचार माध्यमों में गंभीर बहस हुई। पाठ्यपुस्तक में कार्टून को शामिल करने के पक्षधर विद्वानों जो तर्क दिए उसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, छात्र को आलोचनात्मक विवेक संपन्न बनाने वाली शिक्षा-दृष्टि, संदर्भ के अनुकूल कार्टून का पाठ, कला-रूप (कार्टून) की अभिव्यक्ति के शेष रूपों से स्वायत्तता आदि प्रमुख थे। एक तर्क यह भी था कि जिस कार्टून पर जीवित रहते स्वयं डा. अंबेडकर को आपत्ति ना हुई, उस पर अंबेडकरवादियों को

आपत्ति क्यों और इसी क्रम में कहा गया कि आंबेडकर राजनीति में भक्ति-भाव के विरोधी थे, वे होते तो अपने आलोचनात्मक विवेक से इस कार्टून की प्रशंसा ही करते। बहस के क्रम में कार्टून को हटाने के पक्षधर विद्वानों की तरफ से जो तर्क दिए गए उसमें बदले संदर्भ में डॉ. आंबेडकर की बदली और बढ़ती प्रासंगिकता का तर्क प्रमुख था।

मिसाल के लिए, दलित-हितों के पक्षधर एक विद्वान ने ध्यान दिलाया कि 'साल 1949 में जब शंकर ने इस कार्टून को बनाया था तब संविधान-निर्माण समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. आंबेडकर की भूमिका का, भारत का अभिजन सही मूल्यांकन नहीं कर पाया था। राजनीतिक दायरे के अभिजन उन्हें अवमानना की नजर से देखते थे। उस वक्त की आबादी में डॉ. आंबेडकर के हिमायतियों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। चंद शिक्षित दलित ही उन्हें अपना प्रतिनिधि समझते थे। जब डा. आंबेडकर नेहरू- मंत्रिमंडल में शामिल हुए तब माना गया कि उन्होंने सत्ता के लिए समझौतावादी रुख अपनाया है। जब उन्होंने मंत्रिमंडल से सन् 1951 में इस्तीफा और पाँच साल बाद बौद्ध धर्म अपनाया, तो उनकी छवि और हैसियत नाटकीय ढंग से बदली। सन् 1990 के मंडल आंदोलन के बाद, आंबेडकर का कद मसीहाई ऊँचाई पर पहुंचा। मौजूदा आंबेडकर नेहरू या गांधी के साथ वार्ता या सुलह-समझौता करने वाला आंबेडकर नहीं है, बल्कि वह इस देश के उत्पीड़ित लोगों की एक बहुत बड़ी सेना का मसीहा है, और इस अर्थ में आज का आंबेडकर गांधी और नेहरू से भिन्न है।'[4]

पाठ्यपुस्तक से जुड़े कार्टून-विवाद पर दलित-हितों के मुखर प्रतिनिधि के रूप में इस विद्वान का निष्कर्ष था कि- "आंबेडकर सिर्फ संविधान-निर्माता नहीं थे, ना ही सिर्फ एक राष्ट्रवादी नेता या सिद्धांतकार, वे एक मसीहाई व्यक्तित्व थे जिन्होंने सात सौ सालों के भीतर कई सामाजिक शक्तियों द्वारा भारतवर्ष से बाहर धकेल दिए गए बौद्ध-धर्म को पुनरुज्जीवित किया और इसलिए आज हर बौद्ध-विहार में वे बुद्ध के साथ बैठे नजर आते हैं। उत्पीड़ितों के मसीहा की तुलना उत्पीड़क के देवी-देवता से नहीं की जा सकती।..पहले दलितों के बारे में यह नहीं माना जाता था कि वे अपनी संस्कृतिगत अस्मिता के लिए संघर्ष करेंगे। उन्हें ऐसे समूह के रूप में देखा जाता था जो ऊँची मजदूरी, आरक्षण और स्कॉलरशिप के लिए संघर्ष करता है। शंकरपिल्लै के कार्टून आजादी के बाद के अंग्रेजी पढ़े-लिखे सवर्ण अभिजन द्वारा किए गए दोस्ताना मजाक हैं लेकिन वे दलित / ओबीसी/ आदिवासी जनता के लायक नहीं है। कार्टून के साथ उसके बनाने वाले की राजनीति और संस्कृति भी चली आती है। दरअसल कोई भी कार्टून राजनीति और जातिगत / वर्गगत भेदभाव से परे नहीं है। यही कारण है कि कार्टून की दुनिया में

दलित जाति की संस्कृति की शुरुआत के लिए आज नई काट के कार्टूनिस्टों को जरूरत है जो वंचित वर्ग से हों। जातिगत पूर्वग्रह धर्म, राजनीति और अर्थव्यवस्था में ही नहीं कला, संगीत और नृत्य की दुनिया में भी पैठ बनाये हुए है।"[5]

आंबेडकर के कार्टून से जुड़े इस प्रकरण की चर्चा के से उन मान्यताओं और बदले समय-संदर्भ के इशारे पाये जा सकते हैं जिनके दायरे में प्रेमचंद को सामंतों का मुंशी साबित करने की कोशिशें हुई हैं। गौर करें, वह बदला हुआ राजनीतिक समय-संदर्भ जिसमें डा. आंबेडकर सिर्फ राजनेता, संविधान-निर्माता या सिद्धांतकार नहीं बल्कि उत्पीड़ित जनता के मसीहा के रूप में चित्रित किए गए हैं। भारतीय समाज के भीतर एक मुखर तबका मसीहा के रूप में उनकी छवि अब गांधी-नेहरू यानी भारत-निर्माता के रूप में स्वीकृत किसी अन्य नेता के समकक्ष मानने को तैयार नहीं। यह तबका भारतीय राजनीति के मनोभाव और सरोकार की व्याख्या सवर्ण बनाम दलित के नजरिए से करता है और उसके लिए अब तक का भारतीय इतिहास वंचित तबके की जातियों पर सवर्णों के प्रभुत्व का इतिहास है। इस इतिहास की पुष्टि के साक्ष्य के तौर पर वह अपनी खोजी नजर पाठ्यपुस्तकों में छपे कार्टून से लेकर प्रेमचंद की कहानी के पात्र घीसू-माधव तक दौड़ाता है क्योंकि उसकी नजर में- "जातिगत पूर्वग्रह धर्म, राजनीति और अर्थव्यवस्था में ही नहीं कला, संगीत और नृत्य की दुनिया में भी पैठ बनाये हुए है।" और, यह वर्ग इस स्थिति की काट में अपने समुदाय के भीतर से नई तर्ज के रचनाकार गढ़ने की भावना से सक्रिय है।

प्रेमचंद के साहित्य का पुनर्पाठ की इस प्रेरणाभूमि पर खड़े होकर उनके साहित्य के बारे में जो कुछ कहा गया है उसमें प्रेमचंद का साहित्य एक माध्यम भर है। मकसद प्रेमचंद की आलोचना के ब्याज से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के भीतर जातिगत पूर्वाग्रहों की खोज करके उसे खारिज करना है। मिसाल के लिए प्रेमचंद का पुनर्पाठ करते हुए एक अध्येता का कहना है- "हिन्दुत्व कहीं टूट न जाए जैसे गाँधीवादी विचारों का समर्थन करने वाले प्रेमचंद को गाँधी विरोधी कैसे कहा जा सकता है? प्रेमचंद तो गाँधीवादी विचारों के पोषक थे। आखिर प्रेमचंद को अम्बेडकर के ऐतिहासिक आंदोलन, दलितों के उत्थान के लिए चलाया गया वह संघर्ष क्यों नहीं दिखाई देता? यह हवाई बातें नहीं, उनके निबंधों की सीधी व्याख्या है। हमारे नेता डॉ. अम्बेडकर ने २५ दिसंबर १९२७ को मनुस्मृति जलाई थी। उसके पीछे भी कारण थे। आज की तारीख में यदि प्रेमचंद जिंदा होते तो आज का दलित उन्हें भी खदेड़-कर भगाने से परहेज नहीं करता।"[6]

एक सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की व्याख्या में ऐसी टिप्पणियां उसके जटिल चरित्र की अवहेलना करती हैं। व्याख्या के लिहाज से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम हमेशा विवादात्मक रहा है और उसके विवादात्मक होने का कारण, उसका जटिल होना ही है। भारत विषयक एक से ज्यादा संकल्पनाएं इस संग्राम में सक्रिय थीं और व्याख्याकार अक्सर इस तथ्य की अवहेलना करते हैं कि भारत के भविष्य विषयक परस्पर विरोधी जान पड़ती ये संकल्पनाएं किसी व्यक्ति(उस दौर के राजनेता, साहित्यकार या फिर सार्वजनिक जीवन से जुड़ा कोई अन्य व्यक्तित्व) में एक साथ मौजूद हो सकती हैं, उसका हृदय इन संकल्पनाएं की आपसी टकराहट की संघर्षस्थली भी हो सकता है, इसलिए ऐसे व्यक्तित्व की बारे में कोई एकहरी टिप्पणी( प्रगतिशील बनाम प्रतिक्रियावादी) नहीं की जा सकती। भारतीय स्वाधीनता संग्राम की ऐसी ही जटिलता को लक्ष्य करने वाली विद्वान भीखू पारेख की पुस्तक कॉलोनियलिज्म, ट्रेडिशन एंड रिफार्म विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रेमचंद के साहित्य पर किसी भी एकहरी टिप्पणी से बचने के लिए यह सोचा जाना चाहिए कि क्या प्रेमचंद के भीतर भी राष्ट्र की एक से ज्यादा संकल्पनाएं एक साथ सक्रिय थीं। इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद का पाठ हो तो उन्हें अति के एक छोर पर खड़े होकर जिस तरह सर्वथा प्रगतिशील कहना असंभव होगा, वहीं अति के दूसरे छोर पर खड़े होकर सर्वथा प्रतिक्रियावादी कहना भी।

आखिर में, एक बात और। दलित-दृष्टिकोण से प्रेमचंद के पुनर्पाठ को संभव बनाने वाली प्रवृत्तियां हिन्दी आलोचना में बहुत पहले से सक्रिय रही हैं। अगर साहित्य की सर्वाधिक निर्णायक कसौटी लोकमंगल मान ली जाय तो फिर हमें यह मानकर चलना होगा कि लोकमंगल कोई स्वर्ग से उतरा सर्वथा अविकल विचार नहीं, बल्कि उसे लोकतांत्रिक राजनीति के भीतर हर समय परस्पर संघर्षरत समूह परिभाषित करते रहते हैं, जो एक के लिए लोकमंगलकारी हो सकता है वही दूसरे के लिए सर्वथा अमंगलकारी भी। प्रेमचंद के साहित्य की विवेचना पर प्रगतिशील आलोचना ने लोकमंगल की कसौटी का इस्तेमाल किया और इसी रास्ते आगे चलकर वह दलित-विरोधी भी कहलाया। इस संदर्भ में दूसरी बात यह कि हिन्दी-साहित्य की आलोचना में एक समय अनुभूति की प्रामाणिकता के तर्क दिए गए। प्रामाणिक अनुभूति और प्रामाणिक चरित्र तर्कधारा ने भी वह जमीन तैयार की जिसके भीतर पैठकर अस्मितावादी आलोचनाएं प्रेमचंद के साहित्य की भावभूमि से लेकर उसमें आये दलित पात्रों के कथन, भंगिमा और आपबीती में प्रामाणिक दलित-अनुभूति का अभाव देखती हैं।

## निष्कर्ष

ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद कि रचनाओं की सीमायें नहीं रेखांकित की जानी चाहिए या यह नहीं बताया जाना चाहिए कि उनकी रचनाओं को आज के दलित व स्त्री लिखते तो कैसा लिखते। पर क्या इससे यह निश्चित होगा कि वे रचनाएँ सबके लिए ग्राह्य और सम्बेदना को झगझोरने वाली होंगी? मसलन डॉ धर्मवीर द्वारा “कफ़न” कहानी का यह मूल्यांकन कि – “ कहानी का आठ बटा नौ भाग अनकहा रह गया है, जो प्रेमचंद के पेट में है। केवल साहित्य की दलित समीक्षा ही उस पुरे आइसवर्ग को बहार लाएगी। सारी कहानी नए शिरे से स्पष्ट हो जाती, यदि प्रेमचंद इस कहानी की आखिरी लाइन में दलित जीवन का सच लिख देते कि बुधिया गांव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी। उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। तब शब्द दीपक कि तरह जल उठते और सब समझ में आ जाता।”[7] सर्वग्राह्य है। सवाल यह नहीं है कि प्रेमचंद कैसा लिखते तो कैसा हो जाता। सवाल यह है कि प्रेमचंद के बरक्स आप ने (दलित साहित्य ने) क्या लिखा है? यहाँ राजेद्र यादव जी का यह सवाल बड़ा जायज लगता है कि यदि प्रेमचंद ने सवर्णवादी दृष्टि से दलित कि समस्याओं को देखा है और उन्हें नीचा दिखाया है तो दलित लेखकों को यह राय रखने का पूरा हक है, पर कायदे से होना यह चाहिए कि आज के दलित लेखक प्रेमचंद से भी बड़ी लकीर खींचकर दिखाएँ।

## संदर्भ

- [1] 'मंत्र' दलित और सांप्रदायिकता (पाखी, अक्तूबर 2009) और 'दलित, प्रेमचंद, तुलसीदास और शहीद भगत सिंह' - रतन कुमार साभारिया (30 जुलाई 2010 को रचनाकार डॉट ओरजी पर पोस्ट की गई)
- [2] देखें इस पूरे प्रकरण पर केंद्रित दिगंतर नामक संस्था द्वारा प्रकाशित शिक्षा-विमर्श नामक पत्रिका का नवीनतम अंक।
- [3] देखें डीएनए में 16 अगस्त 2012 को प्रकाशित समाचार-एनसीईआरटी स्टैन्ड अप पॉलिटिकल बाँसेज, विल ड्राप जस्ट श्री आऊट ऑव टेवेन्टीवन कंट्रोवर्सिय टून्स
- [4] देखें- डेक्कन क्रॉनिकल में 22 मई 2012 को प्रकाशित कांचा इल्लैया का आलेख- कार्टून एंड ऑफ्टर
- [5] देखें- डेक्कन क्रॉनिकल में 22 मई 2012 को प्रकाशित कांचा इल्लैया का आलेख- कार्टून एंड ऑफ्टर
- [6] देखें टिप्पणी 1 में उल्लिखित रत्नकुमार सांभरिया का आलेख- 'मंत्रा' दलित और सांप्रदायिकता। मुद्राराक्षस का यह कथन इसी आलेख से लिया गया है।

[7] कफ़न के दलित पाठ कि उलझाने – कविता नंदन सूर्य,  
संकलन सेम्ब्रंद और दलित विवाद – सुधीर प्रताप सिंह,  
नटराज प्रकाशन, दिल्ली – 53, पृष्ठ 359